पत्थर, माटी, दूब...

कविता

पत्थर, माटी, दूब...

मेरे हाथों में एक कागज है, कागज में आड़ी-तिरछी रेखाओं में छिपा कोई अक्स। ठीक उसकी ही तरह, हो कर भी साफ-साफ नहीं दिखता। पिता से ही आई है यह आदत मुझ

तक। पिता जब भी खाली होते यानी मूर्तियाँ न बनाते होते, चित्र बनाया करते थे। पिता कहा करते थे स्केल, परकार सब तो हमारी आँखो में है...

मेरी आँखों में कोई दृश्य है, 10 साल की एक बच्ची दुर्गा की प्रतिमा की आँखें सिरज रही है। पिता कहते हैं आँखें बनाना मतलब देवी को जागृत करना, उनकी प्राण प्रतिष्ठा। हाथ काँप रहे हैं उस छोटी-सी लड़की के मगर मन में एक अजीब सी पुलक। पिता ने उसके काँपते हाथों को सहारा दिया है...

मेरी बेचैनी कुछ कम है। मुझे उत्तर मिला है कहीं अपने इसी उहापोह से। मुझे बनाते-रचते पिता ने कब कान दिया था किसी की बात पर, मैं उसी पिता की संतति इतनी कमजोर कैसे हो गई... देखती हूँ मैं आड़ी-तिरछी रेखाएँ अब एक शक्ल में परिणत हो रही हैं - एक निर्बोध निष्पाप चेहरा... पर आँखें अब भी गायब है उस शक्ल से। अब इसकी आँखें खोलूँ कि न खोलूँ यह निर्णय मेरा। पिता द्वारा थमाई गई सुनहरी कूची जैसी उड़ती पड़ती मेरी हाथों में आ गिरी है...

अभी-अभी तो जिंदगी एक पड़ाव को आ लगी है। नाम, पैसा, वैभव सब अभी-अभी तो... 'एक मुट्ठी' आसमान की नींव अभी-अभी तो डाली है। मेरा सपना 'एक मुट्ठी आसमान'। स्त्रियों के लिए उनके वजूद की स्वीकारोक्ति, पहचान। वैसी स्त्रियाँ जिनमें अपनी एक अलग पहचान बनाने की चाह हो। अपने पैरों पर खड़े होने का चाव। क्या होगा मेरे इस सपने का? बच्चियों से, माँ से क्या कहूँगी। यह व्यक्तिक्रम...

फिर पीछे की ओर लौटना होगा मुझे। उस अतीत तक जहाँ से भागती रही हूँ मैं निरंतर। जीवन में, सपनों में, नींद में। लौटना होगा मुझे उसी माटी तक। कोई विकल्प कहाँ है मेरे पास। पिता के जीवन की त्रासदी से स्मृतियाँ सींझ रही है दहक रहा है मेरा शरीर। पर...

मैं 'एक मुट्ठी आसमान' के अपने क्लासरूम में हूँ - "स्त्रियों से यह समाज अपनी कला छिपाता रहा है। स्त्रियों का मतलब यहाँ खास तौर पर बेटियों से लीजिए। कारण उनकी कला, उसके गोपन रहस्य कहीं और की थाती न हो जाए। आखिकार वे दूसरे घर ही तो ब्याही जाएँगी। वे उत्तराधिकारी नहीं होती अपने पिता के विरासत की।

स्त्रियों के लिए ज्ञान के सारे स्रोत वर्जित है। मैं जिस समाज से आई हूँ वहाँ बेटियों के सामने पिता अपना काम बंद कर देते रहे हैं...

निर्जीव बेजान मिट्टी जब कुम्हार के मन और पुनः उसके चाक पर शक्ल पाती है तभी हो पाता है किसी कलाकृति का जन्म। सभी व्यवसाय सिर्फ व्यवसायिक कुशलता की बजह से नहीं चलते, कुछ के लिए सिर्फ हाथों की हुनर और अपने भीतर छिपे कलाकार को तलाशने-तराशने की जरूरत होती है। और इस सबसे बढ़ कर है कहीं वह सुकून जो आप में कुछ होने, औरों से अलग होने की भावना से आती है। शोहरत अलग से पर इसके लिए जरूरी है यह कि निरंतर नए प्रयोग करने, नया कुछ गढ़ने का जज्बा हो आपके भीतर।

मैं अब बोल भी लेती हूँ और इस तरह धाराप्रवाह। सोचती हूँ तो खुद पे हैरत होती है। वक्त ने ठोंक पीट कर कई-कई षक्लें दी, कई-कई बाने दिए। पर मैं न वही माटी की माटी। पुनः उसी माटी तक। 'पुनि जहाज को आवै' यही तो कहा करते थे पिता। माटी, मेरा पहला प्यार। माटी, मेरी आँखों का देखा हुआ पहला ख्वाब... मैं सोचती हूँ इस कठिन क्षण में मुझे माटी की याद आई तो यूँ ही नहीं... मुझे माटी को दिलवाना होगा उसका वही मुकाम, पिता को और उनके सपनों को भी।

नयोनिका की आँखों में कोई प्रश्न है। अपनी प्रिय सहेलियाँ की नयोनिका अर्थात् नयनिका चटर्जी। साँवली सुंदर नयनिका चटर्जी... बच्चों सी शांत-निर्मल पारदर्शी। एक कलाकार को ऐसा ही होना चाहिए या कि ऐसा ही कोई व्यक्ति शुद्ध-सात्विक कला रच सकता है बीच के कालखंड में मैं हँस पड़ती थी पिता की इस उक्ति को याद कर। गलत तो नहीं समझ रहें हैं आप... पिता पर बिल्कुल भी नहीं। टूटी - खंडित मूर्ति ही सही पर है तो देवता की ही।

मैं नयोनिका की तरफ देखती हूँ, शायद उसी प्रश्न की आशा में। उसने सवालों को कहीं भीतर ही समेट लिया है, मेरे व्याख्यान में कोई व्यवधान न हो। मैं सोचती हूँ, क्या पूछना चाह रही होगी वह? मैं कयास लगती हूँ... कमाई की यहाँ कोई निश्चित सीमा नहीं है। गणेश की एक मूर्ति 50 रुपये से ले कर पचास हजार तक में। वॉजेज, म्यूरल्स आदि भी अपनी बारीकियों के अनुसार कम और अधिकतम मूल्य में बेची-खरीदी

जाती हैं, केवल टेराकोटा में ही एक रुपये के बीड से ले कर बीस हजार तक के होते हैं... पत्थरों में जिस तरह हटाने या छीलने की प्रक्रिया मुख्य है उसी तरह मिट्टी या टेराकोटा में जोड़ने की। पॉटरी में डिजाइनिंग के लिए रंग-बिरंगी मिट्टी तथा पक्के रंगों की आवश्यकता होती है। कच्चे रंगों से मूर्ति में वह चमक नहीं आ पाती। अचानक मन में कहीं बेतरतीब उजली दाढ़ी में रंगों को पकाते-घोलते पिता जाग उठते हैं, जोर-जोर से गुनगुनाते - "मन ना रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा। आसन मार मंदिर में बैठे, दढ़िया बढ़ाये जोगी बन गए बकरा।" माँ चिढ़ती थी पिता के इस बेसुरेपन से पर मुझे हमेशा उनके स्वरों की सच्चाई भिगाती, मोहती, बहाती ले जाती अपने बहाव में... मैं खुद को समेटना चाहती हूँ। इसके अलावे पॉटरी के लिए धागा, जाली, थपकी, छोटी-बड़ी कैंची और ओखल-मूसल की जरूरत होती है। नोट तो कर रही है न आप सब। आँखों-आँखों में बतियाती मेघा - आभा सहज हो आई है, मैं कनखियों से देख ही लेती हूँ बोलते-बोलते।

'मैम मिट्टी...' मैं आभा की बात पूरी सुने बगैर ही व्याख्यान जारी रखती हूँ - "हाँ मिट्टी आप आसपास के घड़ा बनानेवाले कुम्हारों से ले सकती है। माली से भी खरीद सकती हैं। फिलहाल यहाँ तो उपलब्ध है ही। और आज आप सब प्रैक्टिकल कक्षा में रंगों से, गुणों से मिट्टी को पहचानना सीखेंगी। मिट्टी का ज्ञान इस कला को साधने के लिए बहुत जरूरी है। 'मिट्टी की पहचान' पिता के द्वारा बार-बार प्रयुक्त होनेवाला शब्द; जिसमें मैं कतरा कर गुजरी थी इस वक्त।

जिसे मैं बिसरी रही थी पिछले दिनों या कि जानबूझ कर बिसरा दिया था। मेरे चाहते न चाहते जैसे मेरे स्वर में पिता ही बोलने लगे थे। मैं तो उतरती जा रही हूँ अपने भीतर गहरे-बहुत गहरे। बचपन की कंदराओं तक - "काली मिट्टी, भूरी मिट्टी, दोमट मिट्टी, कलकत्ते की मिट्टी अर्थात् कैलकटा क्ले, बहुत मुश्किल से मिलनेवाली पर मूर्तियों के लिए सबसे मुफीद। सानते ही जो रुई के फाहों जैसे हल्की हो ले। मोड़ना, मोल्ड करना सबसे आसान, बच्चों के खेल जैसा। टेक्सचर भी अच्छा आता है इसका। मेरे भीतर पिता जाग रहे है पूरे के पूरे। मैं उनके आगे बैठी हूँ चुक्की-मुक्की। माटी को छूने, सहलाने, खाने की मेरी इच्छा। पिता शायद समझते है मेरा मन मेरे नाक के

आगे है उनकी हथेली, मेरे नथुनों में भरी जा रही है एक सोंधीं गमक - "सुन तो इसकी खुशबू क्या कह रही है... मुझे आकार दो, रंग दो... जीवन दो...।

शुरू-शुरू में मैं खेल-खेल में ही मूर्तियों के लिए आभूषण बनाती। माला, मनका, कान की बालियाँ। फिर फूल और नाखून के अग्रभाग... फिर अधबनी मूर्ति में नक्स उभारने का काम। पूरे-पूरे पाँच वर्ष गुजर गए थे इन कामों के बीच। मेरे प्यारे बचपने के वर्ष। जिस दिन मैंने एक पूरी-की-पूरी मूर्ति खुद पूरी की थी, वह घनघोर जाड़े की एक रात थी। बगल में उपलों का अलाव था, अलाव में बार-बार उपले डालते पिता। मुझे सर्दी न लगे, मेरे काम में कोई व्यवधान न आए। अलाव की रोशनी में मैंने देखा था पिता की आँखें बिल्कुल लाल थी। जागरण या धुएँ से धुआँई आँखों जैसी नहीं। बहुत हद तक वैसी जैसी मैंने देवी खेलाते वक्त पुजारियों की देखी थी। पिता बार-बार निहार रहे थे मेरी बनाई उस मूर्ति को। पिता खुश थे, पिता आक्रांत थे। क्षण भर बाद उन आँखों में निश्चय की एक गहरी चमक नजर आई थी। पिता ने मेरे हाथों को लौ की तरह खींचा था - "शपथ ले तू कि तू मेरी कला को मेरे साथ मरने नहीं देगी, आगे बढ़ाएगी उसे।" मैंने विवाहों में ऐसा होते देखा था। यह सब मेरे लिए एक खेल था, एक कौतूहल। पर शायद नहीं। मैंने पूरे भोलेपन पर उतनी ही दृढ़ता के साथ कहा था - 'मैं वचन देती हूँ।'

मैं पिता के साथ सजधज कर नए पहन कर मंदिर गई हूँ। मेरी बनाई मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा है आज। प्राण-प्रतिष्ठा के वक्त केवल कलाकार और पुजारी होते हैं, दूसरा कोई नहीं। उस पर एक लड़की... पुजारी को मेरी उपस्थिति से ऐतराज है। स्त्रियाँ तो स्वयं देवी की प्रतिमा होती हैं, यह मूर्ति भी एक स्त्री की है और इसे बनानेवाली भी एक औरत। पिता ने मेरी तरफ उँगलियों से इशारा किया है। अब आप ही निर्णय लें, इस मूर्ति को मंदिर में प्रतिष्ठित करना है या नहीं। पुजारी भौंचक है। वह मुझे, मूर्ति को और पिता को बारी-बारी देख रहा है... सुनहरी कूची पिता ने मेरे हाथों में थमा दी है। मैं रोमांचित हूँ, इतनी ज्यादा कि हाथ काँप रहे हैं मेरे। पिता ने मेरे काँपते हाथों को सहारा दिया है। मैं रच रही हूँ देवी के नेत्र। आँखें खोलने का उपक्रम पूरा हो चुका है। पुजारी हमें आईने में मूर्ति का अक्स दिखा रहा है...

जब भी नाना आते और मुझे पिता के साथ काम करते देखते तो कुड़बुड़ा कर रह जाते। हमेशा उनके पाँव छूने को बढ़े मेरे हाथों को उनकी वर्जना भरी दृष्टि वही थाम लेती -

"कितनी मैली है तेरी हथेलियाँ।" माँ से बात-बात में कहतें "माटी-कादों में रह-रह और धूप में बैठ कर और साँवली हो जाएगी। फिर ब्याह कैसे होगा इसका। बाप को तो बिल्कुल समझ नहीं, तू ही कुछ चिंता कर। रोक ले इसे, अब भी वक्त हैं।" माँ सुन लेती सब चुपचाप।

पिता से कहते हैं सब आस-पड़ोस के मूर्तिकार "बेटी को सिखाना मतलब सूखे हुए पौधे में पानी डालना। कोई अच्छा-सा शिष्य ढूँढ़ो तुम्हारी विरासत को वही सँभाल सकेगा, यह लड़की नहीं। पिता का चेहरा कड़ा हो जाता था यह सब सुन कर पर वे मुँह से कुछ भी नहीं कहते थे। पिता उल्टे मुझे सिखाने में ज्यादा वक्त लगाते, उनकी दृढ़ता जैसे इन प्रहारों से और बढ़ती जाती। वक्त का वह हिस्सा खूबसूरत यादों की तरह है, मस्तिष्क में। बाद में तो...। पिता की बनाई मूर्तियों, खिलौनों, सजावटी सामानों तब की धूम थी चारों तरफ। पिता के हाथों का हुनर तब लोगों के सिर चढ़ कर बोलता था। दूर-दूर तक लोग जानते थे कलाकार गिरीश प्रजापति का नाम। त्योहारों के वक्त तो पिता को साँस लेने तक की फुर्सत नहीं होती। आम दिनों में भी जरूरत से अधिक काम। हमारा परिवार एक खुशहाल परिवार था। आस-पड़ोस के परिवारों से तो कहीं बहुत ज्यादा...

पर धीरे-धीरे वक्त अपना रुख बदलने लगा था। वह बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का काल रहा होगा। महँगाई, गरीबी अपने डैने तेजी से पसारने लगी थी। पैसों की किल्लत हर तरफ। लोगों के मन से त्यौहार का उछाह कमने लगा था। मिट्टी के खिलौनों की जगह प्लास्टिक और रबर के सस्ते टिकाऊ चाभीवाले आयातित खिलौनों से बाजार भरने लगे थे। मैं खुश थी, पहले कभी-कभार आनेवाले पिता के खिलौने मेरे हिस्से अब ज्यादा आ रहे थे। खूबसूरत मछलियाँ-तितलियाँ-तोते, दुर्गा-काली के मुखौटे किसी ड्राइंगरूम की शोभा बनने की बजाय घर के पिछवाड़े बने स्टोर रूम में भर रहे थें। और कुम्हारसब जब अपने पेषे को छोड़ कर कोई दूसरा व्यवसाय अपना रहे थे या फिर कोई नया प्रयोग कर रहे थें। पिता अड़े-खड़े थे अपनी जिद पर। माटी के साथ कुछ और नहीं, माटी के बदले कुछ और नहीं। माटी सच है, जिंदगी का। छोड़ू माटी को, इससे पहले मैं ही माटी हो लूँ। माटी का मोह पिता को छोड़ नहीं रहा था, हाँ पिता पीछे घूटे चले जा रहे थे। पीछे छूटे हुए लोग हमेशा भागते हुए लोगों के कदमों तले रौंदे जाते

हैं। पिता के साथ भी ऐसा ही हुआ था। और यदि अब वे चाहते भी तो बीमार, कृशकाय पिता के वश में पुनः उठ खड़े हो कर दौड़ लगा कर इस होड़ में शामिल हो पाना संभव नहीं था...। पिता कुचले गए थे, बच रह गए थे सिर्फ हम दो, मैं और माँ। माँ जिन्हें गुजर चुके पिता से शिकायत थी, मुझसे शिकायत थी, इस जिंदगी से शिकायत थी। लोग अलग थे पर शिकायत एक - "मैं ही लड़का हुई होती...

मुझे आश्चर्य है... मैं भीतर भी हूँ और बाहर भी। भीतर के दृश्य बाहर नहीं है... बाहर की दुनिय भीतर का दुख कम नहीं कर पा रही, वर्तमान अतीत के आँसू नहीं सुखाता...। मैं बोल रही हूँ अब भी लगातार। पर शायद मैं बोल नहीं रही - मैं एक छोटी-सी बच्ची माँ की हथेलियाँ थामें उन्हें मन-ही-मन सांत्वना दे रही हूँ - "माँ मैं हूँ तुम्हारा बेटा, तुम्हारे भविष्य का सहारा।" क्या मेरे मन की बातें माँ तक पहुँच नहीं रही, शायद इसीलिए माँ की हथेलियाँ मेरे स्नेह-संवेदना से अछूती है। मैं माँ के पास से हट कर पिता को सुन रही हूँ, अपने भीतर बसे पिता को - "इसके अतिरिक्त यमुना मिट्टी और राजस्थान की मिट्टी मूर्तियों के लिए मुफीद हैं। गोवा मिट्टी आसानी से उपलब्ध होनेवाली मिट्टी है...

मैंने ध्यान से देखा है, नयोनिका की आँखें बहुत सफेद है। काफी हद तक नीलेपन का आभास देती सी। जैसे पिता द्वारा बनाई गई बाल-गोपाल की आँखें। आँखें मुझे हमेशा से प्रभावित करती रही है। तरह-तरह के लोग और तरत-तरह की आँखें। मैं लोगों को पहचान सकती हूँ उनकी आँखें से। यह देन पिता से आई है मुझ तक। पिता द्वारा बनाई गई मूर्तियों की आँखें बहुत सजीव होती थी। तरह-तरह के भावों और जिंदगी से भरी। वे कहते - "सोचो अगर मूर्तियों में आँखें ही न हो तो... और मूर्तियाँ ही क्या मनुष्य, पशु-पक्षी किसी के लिए भी ऐसी कल्पना करके देखो तो।"

पहले नयोनिका और फिर नयोनिका के आते ही आभा, मेधा, त्रिवेणी। पिता कहते थे, बच्चे और शिष्य बराबर होते हैं। पर क्या-क्या नहीं होता आजकल इस रिश्ते की आड़ में? गुरुओं की इज्जत अब कौन शिष्य करता है? मुझे शायद पिता को झुठलाने का नशा है ...या कि उन्हें स्वीकारने-अपनाने का। कहा करते थे पिता कलाकार होने का मतलब है 'माटी होना' और माटी की सार्थकता उसके उर्वर-उपजाऊ होने में है। अपने भीतर उतनी जगह बनाना जहाँ दूसरे आए, फैले-पसरे और अंखुआ सके। बहुत दिनों

बाद आज लग रहा है ठीक कहते थे पिता। मेधा, आभा, त्रिवेणी, नयोनिका जैसे कई-कई टुकड़ो में बँटी खुद मैं... त्रिवेणी तो जैसे खुद मेरी आत्मा का, वजूद का ही कोई अंश। डरी-सहमी यह लड़की जब घर से निकाले जाने के बाद यहाँ आई थी तो कुछ भी करने को तैयार थी, चौका-बर्तन, सिलाई-बुनाई जो कुछ भी काम मिल जाए। दसवीं तक की पढ़ाई भी कर रखी थी उसने। इससे आगे का स्कूल नहीं था उसके मायके के गाँव में। ससुराल...? "ससुराल जा कर कौन लड़की पढ़ सकी है दीदी? होता हो शायद ऐसा शहरों में।" त्रिवेणी को अपना घर इसलिए छोड़ना पड़ा था कि शादी के तीन साल बाद तक भी वह एक बच्चे को जन्म नहीं दे सकी थी। और बाद में तो डॉक्टरों ने भी कह दिया था... "त्रिवेणी कभी माँ नहीं बन सकती; उसे गर्भाशय की ऐसी बीमारी है जिसमें उसका विकास उम्र के साथ-साथ नहीं हो पाता। 'तुम्हारा पति...।?' वो कुछ भी माँ के विपरीत जा कर कह - कर नहीं सकते। माँ ही सर्वेसर्वा है घर की। वे तो माँ पर ही आश्रित है, खाने-पीने, कपड़े-लत्ते तक के लिए...

सोचते-सोचते कब क्लास खत्म हो गई, कब लंच-ब्रेक भी खत्म उसे पता ही नहीं चला। वैसे भी उसे आजकल भूख-प्यास नहीं लगती। सिर भारी, मन भारी। एक अजीब सा मितलाता हुआ गंध खाने की हर चीज से पहले उस तक पहुँच जाता है। चीजें फिर जुबान तक जा ही नहीं पाती।

लंच ब्रेक के बाद मैं फिर कक्षा में। विषय - "बनाने की विधि।" पर बनाने की विधि कहीं बीच आधर ही लटकी रह जाती है। कारण मन बुरी तरह से उखड़ गया है, कक्षा से, बच्चियों से... नहीं अपने आप से। अपने विश्वास से। लड़कियाँ भी नहीं रुकी पल भर। त्रिवेणी चाय बनाने चली गई है। मैं सोचती हूँ यह थकती क्यों नहीं कभी? घर में पूरे घर की जिम्मेदारी और कक्षा में भी आगे-आगे बने रहना। शुरू में तो जिद पर ही अड़ी थी - "मुझसे कहाँ होगा यह सब कुछ। मुझे घर में ही रहने दे... पर जब करने लगी तो हाथ पहले दिन से ही इतना सधा और साफ कि मैं हैरत में पड़ गई थी। थकान इन दिनों ज्यादा ही लगने लगी है मुझे। रह रह कर, वक्त-बेवक्त। और आज तो...। नयोनिका जो कल से हिम्मत साध कर भी नहीं पूछ पा रही थी, मेघा ने आज एक झटके से उलीच दिया था। पैसेवाले परिवार की इकलौती, मुँहफट लड़की। उसे क्या पता था आहत भी हो सकत है कोई उसकी बातों से। और होता हो तो हो उसकी बला

से। उसने तो बस एक प्रश्न ही किया है, सीधा-सादा। "हम पत्थरों पर ही अपना काम कन्टीन्यू रखना चाहते हैं। हमें नहीं सीखना यह पॉटरी-वॉटरी। वैसे भी इस कला का कौन-सा भविष्य देखती हैं आप। मिट्टी न पत्थर जितनी टिकाऊ अैर न आवागमन या निर्यात के लिए सहज। मुझे तो मिट्टी जितनी ही भंगुर लगती है यह कला। आउटडेटेड, ऑफबीट। आपने जब प्रस्तर कला को एक नई दिशा, एक नया आयाम दिया फिर अचानक यह स्विचओवर क्यों? यह कला आपकी प्रसिद्धि को समेट सकेगी, हम क्या पाएँगे इस शिक्षा से? प्रसिद्धि? ठौर? उतने पैसे जो हमें एक अच्छी जिंदगी दे सके।"

'एक मुट्ठी आसमान' में यह कोई पहला भूचाल नहीं था। मेघा थी तो छोटे-बड़े झटके लाजिमी थे। पर इस तरह का भयानक झटका शायद यह पहला ही था। मैं जो कुछ कहने-बाँटने आई थी इनसे हिम्मत बटोरती-बटोरती, वह हिम्मत बिला गई थी कहीं। प्रत्युत्तर में तत्काल मेरे पास कोई तर्क नहीं था। सिर्फ छोटी-सी पर विचलित कर देनेवाली एक सच्चाई थी। तर्क नहीं था तो झुँझलाहट ज्यादा थी, मेरे पैरों तले की धरती शायद डगमग-डगमग होने लगी थी। मैं तो खुद किसी नए रास्ते की तलाश में अपनी मजबूरी के तहत इस निर्णय पर आ टिकी थी। पर दूसरे क्यों लें यह निर्णय? उन पर कोई बाध्यता क्यों? "...आप जब चाहे इस कोर्स को छोड़ कर जा सकती हैं, जिस काम को करते हुए अपने आप पर, उस काम पर भरोसा न हो, उसे करना बिल्कुल भी जरूरी नहीं है... हाँ मैंने यह तय किया कि हम अलग-अलग माध्यमों पर अलग-अलग तरीके से काम करेंगे। आज के समय में किसी भी व्यवसाय में टिके रहने के लिए प्रयोगधर्मिता और लचीलापन किसी भी व्यक्ति के लिए बहुत जरूरी है। वर्ना जिंदगी हमें पीछे छोड़ देगी हम कुचले जाएँगे उसके पैरों तले। पाषाणकला पर काम करना मैंने कुछ दिनों के लिए स्थगित कर रखा है। जिन्हें सिर्फ पाषाणकला पर काम करना हो वे कल से आना बंद कर सकते हैं - "मैं बोल रही थी बोले जा रही थी शायद उसके उठ कर चले जाने तक। भरोसा, 'खुद पर भरोसा' ये तो पिता के शब्द थे जिन्हें मैंने दुहराया भर था और जिस पर मेरी बिल्कुल भी आस्था नहीं थी। बीच के वर्षों में तो और भी और आज भी कुछ हद तक। जिस काम में मेरा मन कभी उतना नहीं रमा, उसी में ख्यात हुई मैं और पिता की बनाई वे अनमोल कृतियाँ बेमोल भी नहीं बिकी। यह बिडंबना नहीं तो और क्या है?

त्रिवेणी ने सामने चाय की प्याली ला कर रख दी है पी लेने की हिदायत के साथ। मैं जानती हूँ अपनी चाय ले कर अब वह अपने कमने में कुछ देर आराम करेगी। अगर मैंने रोक न लिया हो उसे कुछ जरूरी काम से। मैं भी अधलेटी हुई हूँ, स्मृतियों ने बढ़ कर मेरी उँगली थाम ली है, मैंने स्मृतियों की। गलियाँ बहुत सँकरी है इनकी, चलो अब ये इनकी जिम्मेदारी मुझे बचती-बचाती जहाँ ले जाए।

मैं एक दृश्य के सामने ठहर कर खड़ी हो जाती हूँ। एक बच्ची भूस-माटी सान रही है, खपच्चियाँ बाँध रही है। उसपर थोप रही है, लपेट रही है माटी। छोटे-छोटे आकार बन रहे है। बच्ची खुश है, पिता भी, कोने-काने से झाँक लेती माँ भी। इस तरह दुनियावी लंद-फद से बची रहेगी, पिता को भी मदद मिल जाएगी कुछ -

स्मृतियाँ थमने ही नहीं देती, लेने ही नहीं देती कोई सुख... मुझे बचपन के हिंडोले से ला कर अतीत के कंकड़ीले पथ पर छोड़ दिया है। 13-14 साल की एक लड़की पत्थरों से खेल रही हैं, उसे लगता है पत्थर भी जीवंत होते है। एक तरलता होती है इनके भीतर भी। माटी जितनी नहीं, माटी से भी ज्यादा। जैसे जीवन धड़क रहा हो पत्थरों की आड़ में। पत्थर मुझे शीतल-कोमल लगते। शायद मेरे मन का ताप ज्यादा होता उनके ताप से। वे धीरे-धीरे बतियाने लगे थे मुझसे कुछ-कुछ ज्यादातर अपने भीतर छिपे आकार के बारे में। हाथ लहुलुहान होने लगे थे मेरे पर जिद जैसे थकती ही नहीं थी। छेनी का हर चोट जैसे एक हुंकार भरता - मुझे माटी की तरह, पिता की तरह मुलायम नहीं होना। हारना नहीं, पत्थर का करना है अपना मन। मुझे माँ की कल्पनाओं का बेटा बनना है। जिद जीतती है, अनभ्यस्तताएँ हार जाती हैं। लड़की खड़ी है दशहरे के मेले में नव-दुर्गा भी उस प्रतिमा के आगे लोग बाग जिस पर बलिहारी जा रहे हैं। कलाकार के उम्र और लिंग को जान कर तो और भी। भूख शायद उँगलियों में हुनर का जादू भर देता हो।

...नई राह मिल गई है जिंदगी को। दुख कहीं पीछे छूट गए है। माटी भी, पिता भी और वह कस्बा भी। मेरी बनाई किसी कलाकृति का किसी भी ड्राइंग रूम में होना उनके लिए बड़ी बात है - 'स्टेटस सिंबल' जैसा कुछ। बेरुख समय से मैं अगला-पिछला सब बकाया वापस चाहती हूँ। अपने पिता के हुनर की कीमत, अपने बचपन की कीमत।

पिता से यह सुनते-जानने के बावजूद कि जिंदगी में कुछ चीजें अनमोल होती है, बेशकीमती भी।

दृश्य फिर-फिर बदल रहे हैं मेरी आँखों में... महानगर में मैंने ढूँढ़-ढूँढ़ कर मूर्तिकला से जुड़ी किताबें पढ़नी शुरू की है। शैलियों को छान मारा है। नया कुछ करने की हिलोर मन में उफान मारती रहती है हमेशा। मैंने अपनी अभूतपूर्व कल्पना से 'राग-रागिनी' श्रृंखला को आकार दिया। फिर 'मेघ-मल्हार' पर काम - वर्षा के लिए प्रार्थना करते किसान, जल की आस में बैठे चातक, भागते बादल और हिरण और नाचते हुए मोर। सारे दृश्य गतिमान। पत्थरों में गति का आभास देना - यह सुनने-कहने में जितना आसान लगे करने में उतना आसान नहीं था। पर मेरी जिद के आगे कुछ मुश्किल भी कहाँ था।

छह-छह फुट की चार मूर्तियाँ पार्वती व गणेश, हनुमान और शिव के जिन्हें मैंने चालुक्य शैली में बनाने का निर्णय लिया था। आभूषणों और बाह्याडंबरों से अधिक भावों पर ध्यान, उनकी प्रधानता। ...जे.पी. होटल, ओबेराय, रेमारी, सिद्धार्थ होटल और रेडिसन जैसे बड़े-बड़े नाम अब मेरे क्लाइंट में शामिल थे। मिट्टी छूट चली थी पीछे कहीं और पिता भी। पर शायद नहीं... मेरी जिंदगी का एक और नियम हो चला था... हर रात एकांत में मैं देर तक पिता का चेहरा तराशती... और हर बार तराश अधूरी की अधूरी। पिता उभर नही पाते थे ठीक-ठीक। जो सबसे करीब था वह चेहरा सबसे मुश्किल... यह कैसी विडंबना थी जब हर तरफ मेरे नाम की दुंदुभी बज रही थी, मैं अपूर्ण थी मेरा कलाकार अपूर्ण था। हर रात मैं पहले से ज्यादा निराश और उदास हो कर पड़ जाती। विजयी दिखती मैं भीतर से हार रही थी...।

विचार पुनः दृश्य में परिवर्तित हो रहे हैं - पिता की अधूरी तस्वीरों की एक प्रदर्शनी है मेरी। कुछ पारखी समीक्षकों और कलागुरुओं की चाह थी यह। मैं जब उन कलाकृतियों से नहीं अपनी हार से घिरी बैठी थी चारों तरफ से। 'पिता' नामक उस श्रृंखला के पिता और बच्चे की उस मूर्ति के आगे एक पुरुष खड़ा दिखता था कई-कई बार, कितनी-कितनी देर तक। धीरे-धीरे झिझक टूटी थी हमारी, दोस्ती जैसा कुछ पनपने लगा था हमारे भीतर। हमारे जिंदगी में बहुत कुछ सम जैसा था... अकेलापन, जिम्मेदारियाँ या कि पितृविहीनता? ...फिर भी आसान नहीं था हमारा एक हो जाना।

हम मिलते थे बार-बार। और भीतर पत्थरों तले दबी माटी में कोंपल जैसा कुछ अंखुआता था... पत्थर फिर-फिर तन कर खड़े हो जाते थे कोंपल को कुचलते हुए। प्यार के लिए कोई जगह नहीं है मेरी जिंदगी में। मुझे पिता को दिए हुए वायदे को निभाना है। मुझे अपनी माँ का लाड़ला बेटा बने रहना है। बेटे माँ को छोड़ कर नहीं जाते। शशांक ने भी नहीं कहा था - "माँ को साथ ले कर तो जाते है न?" उनकी माँ थी उनके साथ और उन्हें पाइलारसिस भी था।

उनकी बीवी अगर हुई तो उनकी माँ का बोझ उठाएगी न कि अपनी माँ का? उनकी माँ चल बसी थी, शशांक ने आना चाहा था हमारे साथ। मैंने मना कर दिया था। "जिंदगी अब बहुत आगे निकल आई है शशांक। मैं, मेरा काम, इंस्टीट्यूट और लड़कियाँ अब वक्त नहीं रहा इस पागलपन का... वैसे भी मैंने पिता को वचन दिया था... मैंने बगैर पीछे देखे पलट लिया था... हाँ एक भरा-भरा खालीपन तब से उकसाता रहता था मेरे भीतर रह-रहके। कोई भी कभी न होने के बावजूद मैं दिन रात मेहनत करती, जी तोड़ मेहनत शायद अब यह मेरी आदत हो चुकी थी... शायद मैं पिता के हश्र से डरी हुई थी... शायद मुझे किसी कल की चिंता थी... शायद मुझे अपनी माँ का योग्य बेटा बने रहना था। बहुत देर तक लेटी रही हूँ मैं शायद। त्रिवेणी पूछने आई है - "रात के खाने में क्या बनना है?" मैं भी उसके साथ उठ कर किचेन तक चली आती हूँ। वह आटा गूँथ रही है, मैं सब्जी काट रही हूँ, मैं सब्जी पका रही हूँ वह रोटियाँ बेल रही है। गैस की लौ के जद में रोटियाँ सेंकता उसका चेहरा मोनालिसा की तस्वीर की स्मृति दिला रहा है। वैसी ही एक रहस्यमयी अद्भुत मुस्कान। क्या है इस मुस्कान में? मुस्कान आ कैसे पाती है इस चेहरे तक, मैं तो शायद टूट ही जाती... क्या मोनालिसा की मुस्कान भी दर्द, एकाकीपन और किसी छलावे की देन थी। या कि मैं ही तलाशती रहती हूँ उसके चेहरे पर अपना अक्स-नक्श?

हम सब खाने बैठे हैं एक साथ। माँ का ही ध्यान जाता है, मेरी थाली अनछुई है। "क्या हुआ?" कुछ नहीं।" मैं उठ कर चली आई हूँ। खा कर दूसरे भी अपने कमरे में चले गए होंगे। ...उबकाइयों की तेज आवाज उनका ध्यान खींच लेती है। भागती आती है दोनों मुझ तक - "क्या हुआ? सुबह से तो ठीक ही थी, अभी भी सब कामों में हाथ बँटाया फिर अचानक?" त्रिवेणी के स्वर में मेरे लिए चिंता है। माँ मुझे नींबू-पानी देती है।

"गैस-वैस बन गया होगा कुछ पेट में। मौसम बदल रहा है, दिन भर सिर्फ काम-काम। अपना भी तो कुछ ख्याल रखना चाहिए। कल चल डाक्टर से दिखालती हूँ।" मेरा मन कुछ हल्का हुआ है। "मैं खुद चली जाऊँगी माँ। मैं आईने में अपना पीला-मुर्झाया चेहरा देख रही हूँ।

हल्का मन फिर सौ किलों का हुआ जा रहा है। कलेजा, शरीर सब भारी। जैसे कोई सिल रख दिया गया हो मुझ पर। भय और आक्रोश की लकीरें कोरे स्लेट पर खींची गई रेखाओं जैसी साफ और स्पष्ट। तो ठीक ही समझ रही थी मैं... शशांक के साथ गुजरे लम्हें जैसे स्मृतियों के गलियारे में चहलकदमी करने लगे हैं, मेरे बगैर इजाजत। मेरे भीतर बसी पुरातन माँ जैसे फब्तियाँ कस रही हो मुझ पर - "बस अभी से डोलने लगी हिम्मत? अभी से इरादे टूटने लगे। अगर इतनी ही कमजोर थी मैं तो शशांक जब लौट रहे थे हमारे पास, अपना लेना था उन्हें।" ...कैसे बताऊँ मैं माँ को यह सब कुछ? ...बताना तो होगा ही। और लड़कियों को...? पहले माँ को... मैं रिपोर्ट माँ के आते रख देती हूँ। माँ के चेहरे पर पहले अचरज, फिर चिंता और अंततः खुशी की रेखाएँ फैल आई हैं। मैं हैरत में हूँ, माँ खुश है। मैं माँ को आज तक नहीं समझ सकी हूँ... माँ मुझे छाती में समेट लेती हैं - 'मत सोच कुछ ...कुछ भी नहीं। मैं सँभाल लूँगी सब...।' 'बच्चे को?' '...बच्चे को भी।' तुझे चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है। "...दुनिया की माँ?" मैंने लाड से उनकी गोद में अपना सिर रख लिया है "...दुनिया भी नहीं।" "...लड़किया?" मैंने बार-बार हिम्मत बटोरा पर फिर भी नहीं कह सकी उनसे कुछ।" "...वे समझदार हैं। उन्हे बता दूँगी मैं।" ...कितनी बदल गई है माँ। ...समय के याथ शायद हर इनसान बदलता है... मैं बेकार ही साथ बोझ अपने सीने पर रखे हुई थी।

मैं दो दिनों तक "एक मुट्ठी आसमान" के अपने दफ्तर और क्लासरूम में नहीं गई हूँ। माँ ने कहा है मैं दो-तीन दिन आराम करूँ। मेरा मन है मैं कक्षा में जाऊँ, लड़कियों से बात करूँ। मेरी झिझक मेरे टाँगों के इर्द-गिर्द अपनी बाँहें लपेट देती है, कैसे जाऊँ मैं, क्या कहूँ उनसे? पड़े-पड़े उकता रही हूँ मैं, जाना तो है ही, आज नहीं तो कल। मै उठ कर चप्पल पाँव में डालती हूँ। माँ कुछ नहीं कहती।

मैं क्लास रूम के बाहर ठिठकी हूँ - 'एबार्शन' मेधा का तीखी स्वर मेरे कानों से बेइजाजत आ टकराया है। मुक्ति का रास्ता यही है। अनचाही बोझ औरतें ही क्यों

अपने सिर लिए फिरें। पुरुष तो... मेरे कदमों की गति धीमी हो आई है। चींटियों सी... रेंगती हई...। यूँ दूसरों पर अपनी बातों का वजन डालने की आदत छोड़ोगी नहीं। निर्णय मैम करेंगी या तुम? त्रिवेणी के स्वर में चिढ़ है। 'हमें शशांक सर को फोन करना चाहिए... नयोनिका है शायद... मैम की ईच्छा के बगैर बिल्कुल भी नहीं... मैम को बताना होता तो खुद नहीं बता दिया होता।

मैं चेहरे को भावविहीन तटस्थता से भरे झटके से क्लासरूम में घुसी हूँ। सब सकते में... अचानक छाई निस्तब्धता बहुत बोझिल और दमघोंटू है। मैं बगैर किसी पूर्व भूमिका के सीधे विषय पर आ जाती हूँ, वहीं जहाँ पिछला क्लास खत्म किया था - "पॉटरी के लिए मिट्टी को बहुत बारीक छाना जाता है फिर उसे तकरीबन 15 दिनों तक पानी में भिगो कर रखते हैं। मिट्टी में दरार न पड़े इसलिए इसे छायादार जगहों में रखा जाता है। इसके बाद इसे लेसदार बनाते हैं तब जा कर बनती है पॉटरी लायक मिट्टी।

मुझे लगता है "एक मुट्ठी आसमान" की फिजां बदली-बदली सी है। मैं देखती हूँ मेरी प्रिय शिष्याएँ कक्षा में कुछ उखड़ी-उखड़ी और बेदिल हैं। पता नहीं क्या कनफूसियाँ चलती रहती है उनमें लगातार। मैं हमेशा खुद को असहज पाती हूँ उनके बीच। फिर भी कक्षा लेती हूँ क्योंकि वह मेरा काम है। खुसफुस से मैं फिर सकते में हूँ। रुकती हूँ कि खुसफुस बंद। दो मिनट इंतजार करने के बाद मैं फिर शुरू हो जाती हूँ - पॉटरी व्यवसाय को शुरू करने के लिए किसी बड़ी राशि की आवष्यकता नहीं है। सिर्फ 10 हजार की राशि से यह व्यवसाय शुरू हो सकता है। इसके लिए किसी लंबी चौड़ी जगह की भी दरकार नहीं। तकनीक ने हमें कई नई सुविधाएँ दी हैं। आजकल विद्युत आँवे भी चलन में आ गए हैं। इनकी सबसे खासियत यह है कि ये आपको मनोवांछित ताप देते हैं और बहुत सारे छोटे-बड़े पचड़ो से मुक्ति भी। इन आँवों की कीमत 10 से 30 हजार तक है। अगर आप इतनी पूँजी एकमुश्त नहीं लगाना चाहते तो पुराने आँवे तो है ही और बाहर पकवाने का चलन भी...

टेराकोटा की कलात्मक वस्तुओं म्युरल्स, वॉजेज, बगैरह को बहुराष्ट्रीय-राष्ट्रीय कंपनियों, पाँचसितारा होटलों, पर्यटन स्थलों, विदेशी दूतावास और क्राफ्ट बाजारों में बेचा जा सकता है। अपनी एकल प्रदर्शनी भी लगा सकते हैं हम। इसके अलावे उच्च

वर्ग और उच्च मध्यवर्गीय लोग इसे आजकल अपनी घरेलू सज्जा में पर्याप्त महत्व दे रहे हैं... "कक्षा खत्म हुई है। मेघा मेरे आगे खड़ी है चुपचाप। मैं पूछती हूँ क्या हुआ?" सॉरी मैम, मैं आपकी परेशानियों को नहीं समझ सकी थी। मैं अपने उस दिन के व्यवहार के लिए शर्मिंदा हूँ, मैं समझ सकती हूँ मैम आपने यह निर्णय कितनी कठिनाई से लिया होगा। पत्थरों पर काम अब आपके लिए आसान नहीं होगा। कोई बात नहीं... आगे फिर कभी... और आप हमें इंसट्रक्शन तो दे ही सकती हैं, अगर हम अपने मन से कुछ बनाए-करें।

क्षमा माँगते वक्त उसकी आँखें नीची हैं, बहुत नीची। मैंने उसे पहले कभी ऐसे नहीं देखा और मुझे यह भी पता है उसके लिए यह करना-कहना कितना मुश्किल होगा। मैं उसके कंधे पर अपनी हथेलियाँ रख देती हूँ, कहती कुछ भी नहीं। बीते दिनों का तनाव हमारे बीच से छितर रहा है चुपचाप...

अब यह फिर कैसी नई खुसफुस? वक्त मिलते ही ये लड़कियाँ कौन-सी गूटर-गूँ शुरू कर देती हैं आपस में। अब कौन सा मुद्दा? कौन-सी बात? बीते दिनों उनके इसी बतियाने को मैं अपने विरुद्ध कोई साजिश या फिर खुद के ऊपर हँसने से जोड़ती रही हूँ। गुपचुप की टोह मुझे कुछ-कुछ लग रही है। वे अपनी कलाकृतियों की प्रदर्शनी लगाने की सोच रही हैं। मुझसे मश्विरा किए बगैर? मैं पूछना चाहती हूँ इतनी हड़बड़ी उन्हें क्यों है? कारण जान कर जैसे बौनी हुई जा रही हूँ मैं। वे कहती हैं हॉस्पिटल और बेबी के वक्त के सारे खर्च इस एक्जीविशन से ही निकलने चाहिए। वे खूब मेहनत करेंगी। हमारा सिर नहीं झुकने देंगी, बस हम एक बार इजाजत दे दें। और वे इसके लिए मेरे सिर कोई अतिरिक्त दायित्व या बोझ भी नहीं डालेंगी। मैं सकते में हूँ, कहूँ भी तो क्या -

प्रदर्शनी के नाम पर उन्हें देर तक रुकने की इजाजत मिल गई है, वे सब कुछ सँभाल रही हैं अपना काम और मेरा घर भी...। वे सिर्फ पॉटरी ही नहीं नया बहुत कुछ बना कर रही हैं। वाल हैंगिग, स्टैंड-ग्लास, मूढ़े, टेबल, पेंटिंग्स। यानी क्राफ्ट बाजार में बिक जानेवाले सारे सामान...। वे नित नए प्रयोग कर रही हैं, मिट्टी के साथ शीशे और स्टील का मेल। मैं बस देख रही हूँ इन्हें। मैं उन्हें सिखा रही थी। क्या सिखा रही थी? अभी तो मैं उनसे सीख सकती हूँ बहुत कुछ।

प्रदर्शनी सफल रही है। सबसे ज्यादा बिकी हैं गणेश की मूर्तियाँ-मुखौटे। सब के सब त्रिवेणी के बनाए हुए। आभा-मेधा आज त्रिवेणी के गणेश-प्रेम का मजाक नहीं बना पा रही। मैंने त्रिवेणी के पैसे त्रिवेणी को थमाए हैं। "मैं क्या करूँगी इनका।" कुछ नहीं बस रख ले पास में।" त्रिवेणी के चेहरे पर एक क्षीण सी मुस्कान तैर आई है। लड़कियाँ उमंग में आय-व्यय का हिसाब लगा रही हैं, हिसाब लगाते ही उनका मुँह छोटा-सा हो आता है। त्रिवेणी के पैसे अलग कर दे तो सिर्फ सात हजार...। मैं उनकी आँखों में लिखा देखती हूँ - अभी बहुत काम करना है... बहुत ज्यादा और...। मैं उनसे कहना चाहती हूँ, मेरे लिए वे परेशान न हो... मैंने तो सिर्फ मन रखने के लिए उनकी बात मान ली थी पर मुझे लगता है इससे आहत होंगी उनकी भावनाएँ -

मैं चुपके से एड देती हूँ अखबार में। लड़कियों से, माँ से सबसे छुपा कर। रोज डाक की राह तकती हूँ, निराश होती हूँ। कब दे पाऊँगी मैं लड़कियों को कोई खुशखबरी? दे भी पाऊँगी या नहीं? ...मैं भूल चुकी हूँ यह घटना, दिन भी तो कितने बीत गए इस बीच। डाकिया मुझे एक लिफाफा थमा गया है, कनिष्क होटल के पूरे 24 मंजिलों की सजावट के लिए हमें विशाल वॉजेज बनाने का आर्डर मिला है। एडवांस का चेक भी है 10 हजार का। मैं खुशी में पूरे क्लास में मिठाई बाँटती हूँ। लड़कियाँ इतराती हुई खुशी में रंगीन तितलियों सी दिख रही हैं -

मैं लागत का हिसाब लगा रही हूँ - त्रिवेणी अपने पैसे भी मुझे थमा देती है, यह उस अकेली के नहीं हैं। 'मैं' कुछ मदद करूँ। मेधा पूछती है... 'नहीं'। मैं पुरजोर शब्दों में इनकारती हूँ।

घर ऐसा भरा-भरा लगता है जैसे शादी ब्याह का घर। पहले लड़कियों की खिलखिल से खीज कर अक्सर मुझे डाँट लगानेवाली माँ - "यह 24 घंटे कचर-पचर क्या लगवाए रहती हो।" भी धीरे-धीरे हमारे उत्साह के साथ बह ली हैं। वही माँ जिनकी चुप्पी हाल-हाल तक रह-रह कर उनपर आक्रमण करती रही है...।

वे तीनों मेरे कमरे में स्वस्थ सुंदर बच्चों के तस्वीर टाँग रही हैं। माँ कहती हैं - "सिर्फ लड़कों की तस्वीर।" मैं सन्न रह जाती हूँ। बदलते-बदलते भी माँ...

ये गाऊन आपको ठीक होंगे, कॉटन हैं, दीदी ने सिले हैं। आभा कहती है...। त्रिवेणी माँ के साथ मिल कर छोटे-छोटे बिछावन और नैपीज बनाती है नए-पुराने कपड़ो से। कभी नूडल्स, कभी खिचड़ी, कभी हलवा काम की ओट में हम कुछ भी खा लेते हैं। माँ कहती हैं कोई बाई ढूँढ़ो। इसके लिए लापरवाही ठीक नहीं...। मैं सोचती हूँ कितनी चिंतित थी मैं, इतनी देखभाल और इतना प्यार कितनों को नसीब होता है, मुझे खुद से ही रश्क हो उठता है...

हम सब उदास हैं फंड की कमी के कारण कनिष्क होटल वालों ने काम को बीच में ही रुकवा दिया है। पैसे पाँच फ्लोर के हिसाब से मिले हैं। लागत के जितने भी नहीं... घर के पिछवाड़े पड़े वॉजेज हमारा मुहँ चिढ़ाते रहते हैं - इतने बड़े सपने हमारे...

...मेघा कहती है कल कनिष्क होटल में पिता की मीटिंग थी। वहाँ उन्होंने हमारे बनाए वॉजेज देखें, उनके विदेशी क्लाइंटो ने भी...। वे मुग्ध हुए जा रहे थे उस पर। पिता जिंदगी में पहली बार मेरे कलाकार होने पर इतने खुश हुए हैं। वे क्लाइंट कह कर गए है - उन्हें वॉजेज चाहिए।

अब की आमदनी ठीक-ठाक है, अभी तो और एक्सपोर्ट होने को बचा ही है... खुशी-दुख धूप-छाँट का खेल-खेल रहे हैं हमारे 'एक मुट्ठी आसमान में...'

...लड़कियाँ पत्थरों पर काम करना चाह रही है। मैं ड्रा करके दे रही हूँ उन्हें आकृतियाँ। पत्थरों पर भी चिह्न लगा देती हूँ। फिर देखती रहती हूँ उन्हें दूर से चुपचाप काम करते हुए... मेरी रचनाशीलता परकटे पक्षी की तरह छ्टपटाती रहती है हर पल...

सातवाँ माह... डॉक्टर कहते हैं मैं रोज सुबह टहलने जाया करूँ। उस दिन भी टहल कर ही आ रही थी। एक मँझोला दुधिया पत्थर जैसी मेरी राह रोके खड़ा था। मैं उससे निगाहें चुरा लेती हूँ फिर भी वह है कि किसी ढीठ जिद्दी बच्चे की तरह मुझे तके ही जा रहा है। मैं जितना नजर चुराती हूँ उससे, वह उतना ही ज्यादा झलकता है - मुझे बीच राह यूँ ही छोड़ जाओगी। नक्श तक झलकने लगे हैं उसके साफ-साफ। मैं उसे काल्पनिक छेनी हथौड़े से आकार दे रही हूँ... कलाकार कैसे मुँह मोड़ ले अपनी कला से। अद्भुत - अबकी मैं नजरें नहीं फेर पाती। कोई वैसा है भी तो नहीं जिसे घर जा कर

इसे लेने भेजूँ...। कोई उतना बड़ा भी नहीं। कुछ भी नहीं होता इसे उठा लेने से। घर में भी तो न जाने कितनी बार भूले-भटके कितनी चीजें उठा लेती हूँ। कब होता है कुछ।

मैंने हौले से पत्थर उठाना चाहा है... क्या यह पत्थर जितना बाहर है उतना ही भीतर? देख कर तो ऐसा कुछ भी अनुमान नहीं हो रहा था। मैं थोड़ी और ताकत लगाती हूँ, थोड़ी... थोड़ी और। मैंने झटके से पत्थर को छोड़ दिया है... यह कलाकार ही हार है... कि औरत की जीत... चिलक उठ रही है बार-बार, रह-रह कर। मैंने घर जाने के लिए खुद को किसी तरह सहेजना चाहा है। रह-रह कर होती कोई चिलक, फिर सुसुआता सा कोई क्षीण बहाव... घर आते-आते बहाव तेज हो उठा है...

इन्जेक्शन, दवाइयाँ, ग्लूकोज। लड़कियाँ, माँ सब मेरे साथ रह रही हैं बारी-बारी। डॉक्टर कहती है शायद स्थिति काबू में आ जाए। प्रीमेच्योर बेबी हम नहीं चाहते... सौ परेशानियाँ होती है उनके साथ...। डॉक्टर कहती है ऑपरेट करना पड़ेगा। बच्ची की साँस की गति धीमी हो रही है, शायद इंफेक्शन की वजह से... मैं शर्मिंदा हूँ, मेरी ही वजह से यह सब कुछ। मैं ऑपरेशन थियेटर में जाने से पहले सबसे माफी चाहती हूँ, इस तरह से सब को परेशान करने के लिए। माँ मेरी जुड़ी हथेलियों को अपनी हथेलियों के बीच कस लेती हैं, आँसू से धुआँई हुई है उनकी भी आँखें कि मेरी गीली आँखों का यह कोई भ्रम है?

बच्ची माँ की गोद में है। लड़कियाँ उसे माँ से छीन रही है जबरन। माँ उन्हें झिड़क रही हैं...। माँ कह रही है मुझसे - "आज से तू आजाद, जो चाहे सो कर... मैं अपने सब से बड़े बंधन को प्यार भरी नजरों से जी भर निहारती हूँ...।"

...लॉन में मेरी सवा साल की बच्ची सभी लड़कियों के साथ मिल कर गढ़ रही है कुछ... ढेर सारी माटी उसके हाथ में है, कुछ चेहरे पर और कुछ मुँह में। मैं, माँ और त्रिवेणी यानी हम तीनों माएँ उसे देख-देख बलिहारी हैं...

...बच्ची के जन्म के बाद आज मैंने पहली मूर्ति बनाई हैं। मैं खुशी से चिल्लाना चाहती हूँ... रो पड़ना चाहती हूँ फूट-फूटफूट कर। पहली बार पिता की छवि ठीक-ठीक उभरी है मुझसे। ...हमारे 'एक मुट्ठी आसमान' में हमारे आकांक्षाओं जितनी खुशियाँ हैं,

जरूरत भी चाँदनी, धूप,रोशनी और हवा भी। तो क्या मैं माटी हो रही हूँ, पिता के शब्दों में उपजाऊ-उर्वर माटी? हरियाले दूब की धातृ?